ध्रुवपद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

डॉ0 गीता शर्मा

असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा, संगीत विभाग

जैन कन्या पाठशाला पीजी कॉलेज, मुजफ्फरनगर

ईमेलः kumar_shwetank18@yahoo.com

Reference to this paper should be made as follows:

डॉ0 गीता शर्मा

ध्रुवपद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

Artistic Narration 2021, Vol. XII, No. I, Article No. 11 pp. 065-072

https://anubooks.com/artistic-narration-no-xii-no-1-jan-june-2021/

सारांश

आधुनिक प्रबंध गायन (शैली) में ध्रुवपद का मुख्य स्थान है। ध्रुपद शब्द की रचना दो शब्दों के सहयोग से हुई है ध्रुव + पद। ध्रुव का अर्थ है अचला या स्थिर और पद का अर्थ है शब्द, गीत की पंक्ति, शब्द काव्य, चरण और तुक। विभिन्न विद्वानों ने ध्रुवपद की परिभाषा इस प्रकार की है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार, "वर्ण, अलंकार, गान, यति, वाणी, लय, आदि जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर सम्बद्ध रहे, उन गीतों को ध्रुवा कहा गया है। जिन पदों में उक्त नियम का निर्वाह हो रहा है उन्हें ध्रुवपद कहा जाता है।"

ध्रुवपद के जन्म का इतिहास कब से शुरू हुआ इसके बारे में कुछ कहना कठिन है। यदि क्रमानुसार गीत की परंपरा को देखा जाए तो ध्रुवपद तीसरे स्थान पर बढ़ता हुआ पाया जाता है क्योंकि प्राचीन काल में देखा तो उस समय ऋचाओं से छंद गान और छंद से प्रबंध की श्रृंखला पर ही ध्रुवपद अपनी तीसरी सीढ़ी पर पाया जाता है। वैदिक काल में ऋचाएं गाई जाती थी तथा छंद पौराणिक काल में, इसी के साथ प्रबंध और ध्रुवपद प्रबन्धों की कड़ियां जुड़ी हुई है। आज के समय से 1500 वर्ष पूर्व भी साधारण रूप में कहीं–कहीं गायन मर्मज्ञ कभी–कभी मुख्य स्थानों पर छंद अथवा ऋचागान करते पाए जाते थे। कश्मीर, मिथिला, उड़ीसा, बंग, मुल्तान, एवं दक्षिण भारत के समस्त संगीत केंद्र इसी के उपासक थे।

प्रस्तावना

आधुनिक प्रबंध गायन (शैली) में ध्रुवपद का मुख्य स्थान है। ध्रुपद शब्द की रचना दो शब्दों के सहयोग से हुई है ध्रुव + पद। ध्रुव का अर्थ है अचला या स्थिर और पद का अर्थ है शब्द, गीत की पंक्ति, शब्द काव्य, चरण और तुक। विभिन्न विद्वानों ने ध्रुवपद की परिभाषा इस प्रकार की है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार, "वर्ण, अलंकार, गान, यति, वाणी, लय, आदि जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर सम्बद्ध रहे, उन गीतों को ध्रुवा कहा गया है। जिन पदों में उक्त नियम का निर्वाह हो रहा है उन्हें ध्रुवपद कहा जाता है।"

ध्रुवपद के जन्म का इतिहास कब से शुरू हुआ इसके बारे में कुछ कहना कठिन है। यदि क्रमानुसार गीत की परंपरा को देखा जाए तो ध्रुवपद तीसरे स्थान पर बढ़ता हुआ पाया जाता है क्योंकि प्राचीन काल में देखा तो उस समय ऋचाओं से छंद गान और छंद से प्रबंध की श्रृंखला पर ही ध्रुवपद अपनी तीसरी सीढ़ी पर पाया जाता है। वैदिक काल में ऋचाएं गाई जाती थी तथा छंद पौराणिक काल में, इसी के साथ प्रबंध और ध्रुवपद प्रबन्धों की कड़ियां जुड़ी हुई है। आज के समय से 1500 वर्ष पूर्व भी साधारण रूप में कहीं–कहीं गायन मर्मज्ञ कभी–कभी मुख्य स्थानों पर छंद अथवा ऋचागान करते पाए जाते थे। कश्मीर, मिथिला, उड़ीसा, बंग, मुल्तान, एवं दक्षिण भारत के समस्त संगीत केंद्र इसी के उपासक थे।[1]

प्राचीन समय में निबद्ध गान में प्रबन्ध, वस्तु तथा रूपक थे। दूसरी और अनिबद्ध गान में रागालाय रूपकालाय, आलप्तिगान थे। राग–विस्तार में अनिबद्ध गान की तीनो श्रेणियों रांगालाप, रूपकालाप, आलाप्तिगान थी। प्राचीन काल में सबसे पहले रागालाप होता था उस समय आलाप करने का यही ढंग प्रचलित था इसे अनिबद्ध गान कहकर पुकारा जाता था, गायक गीत गाने के पहले उस राग का स्वरूप रागालाप द्वारा खींचता था, जिस प्रकार आधुनिक समय में गायक अथवा वादक गीत के पहले राग का आलाप करता है रागालाप करते समय राग के दस लक्षणों का पूर्ण रूप से पालन किया जाता था अर्थात् रागलाप द्वारा राग के दस लक्षणों को दिखाया जाता था राग के दस लक्षण इस प्रकार है। 1 ग्रह 2 अंश 3 न्यास 4 अल्पत्व 5 बहुत्व 6 शाडत्व 7 औडत्व 8 अपन्यास 9 मन्द्र 10 तार।

अतः इस प्रकार आधुनिक समय में अनिबद्ध गान में आलाप गायन प्रचलित है जो राग के गीत गाने से पहले गाया जाता है। प्राचीन समय में आलाप के विस्तार के लिए भक्ति वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता था जैसे ओम नारायण, अनंत हरि, तु ही हरि, अनंत, आदि। इसके साथ–साथ ही आकार, उकार आदि शब्द भी लिए जाते थे, ये ही आज के समय में नोम–तोम के आलाप के रूप में जाने जाते हैं। नोम–तोम प्राचीन भक्ति वाचक षब्द ओम नारायण, अनंत हरि आदि का बिगड़ा हुआ रूप है।

आधुनिक प्रबंध गायन (शैली) में ध्रुवपद का मुख्य स्थान है। ध्रुपद शब्द की रचना दो शब्दों के सहयोग से हुई है ध्रुव + पद। ध्रुव का अर्थ है अचला या स्थिर और पद का अर्थ है शब्द, गीत की पंक्ति, शब्द काव्य, चरण और तुक। विभिन्न विद्वानों ने ध्रुवपद की परिभाषा इस प्रकार की है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार, "वर्ण, अलंकार, गान, यति, वाणी, लय, आदि जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर सम्बद्ध रहे, उन गीतों को ध्रुवा कहा गया है। जिन पदों में उक्त नियम का निर्वाह हो रहा है उन्हें ध्रुवपद कहा जाता है।"

ध्रुवपद के जन्म का इतिहास कब से शुरू हुआ इसके बारे में कुछ कहना कठिन है। यदि क्रमानुसार गीत की परंपरा को देखा जाए तो ध्रुवपद तीसरे स्थान पर बढ़ता हुआ पाया जाता है क्योंकि प्राचीन काल में देखा तो उस समय ऋचाओं से छंद गान और छंद से प्रबंध की श्रृंखला पर ही ध्रुवपद अपनी तीसरी सीढ़ी पर पाया जाता है। वैदिक काल में ऋचाएं गाई जाती थी तथा छंद पौराणिक काल में, इसी के साथ प्रबंध और ध्रुवपद प्रबन्धों की कड़ियां जुड़ी हुई है। आज के समय से 1500 वर्ष पूर्व भी साधारण रूप में कहीं–कहीं गायन मर्मज्ञ कभी–कभी मुख्य स्थानों पर छंद अथवा ऋचागान करते पाए जाते थे। कश्मीर, मिथिला, उड़ीसा, बंग, मुल्तान, एवं दक्षिण भारत के समस्त संगीत केंद्र इसी के उपासक थे।[1]

प्राचीन समय में निबद्ध गान के अंतर्गत प्रबंध वस्तु तथा रुपक थे। प्रबंधन का अर्थ गीत शैलियों से है। भारतीय संगीत में प्राचीन काल से ही समय–समय पर विभिन्न गीत शैलियों का प्रचार रहा। वैदिक काल में गाथा, पाणीका आदि का प्रचार था। गीत, ताल, तथा वर्ण के विशिष्ट क्रम पर आधारित थे। गीतों के विभागों को वस्तु कहा जाता था। गीत गायन से पहले 'उपोहन' नामक एक अंग होता था। महर्षि भरत के काल में ध्रुवा गीतों का प्रचलन था और प्राचीन काल में हमारे ऋषि मुनि भी 'ध्रुवपद' में संस्कृत श्लोकों को गाकर ईश्वर की आराधना किया करते थे परंतु उन श्लोको को ध्रुवपद नाम नहीं दिया गया था। मतंग ने वृहतदेशी में 49 प्रबन्धों का वर्णन किया है।[2]

ध्रुव गीतों के पश्चात प्रबंध आया और प्रबंध से ध्रुवपद इसलिए प्रबंध गीतों के छह अंगों एवं चार धातुओं अथवा अव्यवों का द्रुपद में अलग–अलग नामों से प्रयोग होता है। ध्रुपद के मनीषी मानते हैं कि प्रबंधओ के स्वर, विरुद्ध, पद, पाठ, ताल और तेनक छह अंगों का ध्रुवपद गायन में किसी न किसी रूप में प्रयोग होता है। इसी प्रकार प्रबंधो के चार अव्यवों अथवा धातुओं, उद्ग्राह, ध्रुव, मेलापक और आभोग का प्रयोग आज भी ध्रुवपद गायन में स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग नाम से होते हैं।[3]

1. उद्ग्राह :– यह सर्वप्रथम भाग था इसका अर्थ उद्ग्रहण या प्रारंभ करना होता है। प्रबंध गायन का आरंभ इसी धातु से किया जाता था अर्थात इसे ध्रुव के शुरू करने से पहले गाया जाता था।

2. ध्रुव :– ध्रुव गीत के उस भाग को कहा जाता था जो गीत के अंत तक बार–बार गाया जाता था। प्रबंध का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण होता था। इसका लोप नहीं किया जा सकता था इसलिए इसका नाम ध्रुव पड़ा। आधुनिक समय में इसकी तुलना स्थायी से कर सकते हैं।

3. मेलापक :– प्रबंध गायन का तीसरा चरण होता था क्योंकि इसी के माध्यम से अन्य धातुओं अथवा अव्यवों का मेल होता था। अतः इसे मेलापक नाम दिया गया। उदग्राह तथा ध्रुव के मध्य में मेलापक का स्थान था। कभी–कभी उदग्राह और ध्रुव के मध्य भाग में अंतर नामक एक पांचवीं धातु और होती थी इस प्रकार प्रबंध का आरंभिक भाग उदग्राह था। उदग्राह का तृतीय अंग ध्रुव से मिलने वाला होने के कारण इस द्वितीय अंग का नाम मेलापक पड़ा।

4. आभोग :– गीत के अंतिम भाग को आभोग कहा जाता था। यह प्रबंधन का चौथा एवं अंतिम चरण होता था जिससे प्रबंध गायन को पूर्णता प्राप्त होती थी। धातुओं की दृष्टि से भी प्रबंध चतुरधातु, त्रिधातु और द्विधातु तीन प्रकार के थे। इनमें उदग्राह और ध्रुव अनिवार्य थे। त्रिधातु प्रबंध में

मेलापक नहीं होता द्विधातु प्रबंध में उदग्राह और ध्रुव होते थे या ध्रुव और आभोग अथवा उदग्राह और उपभोग, प्रबंध की रचना में कम से कम दो धातुओं का होना आवश्यक है। इस प्रकार हर प्रबंध में इन सारी धातुओं का प्रयोग हो यह आवश्यक नहीं था। जितनी धातुओं का प्रयोग होता था उसका उसी के अनुरूप नामकरण भी होता था जैसा कि बताया गया है चतुरधातु, त्रिधातु और द्विधातु। आधुनिक समय में ध्रुवपद में स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग, होता है।

कई संगीतज्ञों का मानना है कि प्रबंध के आधार पर ध्रुवपदों की रचना हुई है और इन ध्रुवपदों में स्वर, ताल, विरुद और पद आदि को आधार बनाया गया था। लेकिन डॉ0 विमल राय सहित अन्य संगीतज्ञों का यह भी मानना है कि ध्रुवपद की रचना सालग सूड प्रबंध के आधार पर हुई है। **प्राचीन समय में प्रबंध के छह अंग माने जाते थे।**

1. स्वर, 2. विरुद, 3. पद, 4. तेनक, 5. पाट, 6. ताल

1. स्वर

स्वर के बिना प्रबंध गाया ही नहीं जा सकता। सा, रे, ग, मा, इत्यादि संगीत के स्वर कहलाते हैं। इनके बिना संगीत की रचना नहीं हो सकती, इसलिए यह पहला अंग है। इस प्रकार स्वर के अभिप्राय रचना में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के वैसे स्वर समुदायों से हैं जिनके अभाव में प्रबंध या द्रुपद तो क्या किसी भी प्रकार की संगीत रचना को गाया बजाया नहीं जा सकता है अर्थात रचना में प्रयुक्त शुद्ध एवं विकृत स्वर रचना का प्रथम अंग है।

2. विरुद

इन प्रतिबंधों का प्रचलन नाटकों के काल में था। नाटकों के अंतर्गत इनका प्रयोग होता था। उस समय इन गीतों में पात्र, संदर्भ अथवा कभी–कभी देवताओं का वर्णन भी हुआ करता था। पात्रों का गुणगान भी किया जाता था। विरूद में ऐसे शब्द होते थे जो नायक की स्तुति के लिए प्रयुक्त होते थे। नायक का अर्थ है जिसके लिए गायन किया जा रहा है जैसे भगवान की स्तुति या किसी राजा की स्तुति के लिए प्रयोग किए जाने वाले शब्द। इस प्रकार विरुद का अर्थ है मानव की स्तुति या प्रशंसा करना। प्राचीन संगीत में ध्रुवगीत और उसके पश्चात जितने भी प्रबन्धों का गायन होता था वे सभी नाटकों में गाए जाते थे, इसलिए इनका उद्देश्य नाटक के पात्र की प्रशंसा, उनके गुणों का बखान करना और उनका संपूर्ण परिचय देना होता था। यह कार्य विरुद के माध्यम से होता था। इसमें नायक के कुल का भी वर्णन किया जाता था।

3. पद

पद शब्दों को कहते थे, इसमें नायक के गुणों की चर्चा की जाती थी। यह प्रबंधन का तीसरा अंग था। इसमें गीतों या अभिनय द्वारा नायक की वीरता, दया, दान, शौर्य, आदि गुणों को प्रकट करने वाले शब्द समूह होते थे।

4. तेनक

इस अंग के अंतर्गत, ओम, तत्र, सत्र, हरि, ब्रह्मा, तत्वमसि आदि जैसे शुभ शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग किया जाता था। तेन–तेन जो मंगल वाक्य है उन वाक्यों का प्रयोग किया जाता था। तेनक् या तेन का अर्थ मंगल ध्वनि या मंगल सूचक शब्द होता है।

5. पाट

ताल के बोलों का जब रुद्र, वीणा, शंख और कुछ अन्य प्रकार के ढोलों की ध्वनि के साथ उच्चारण किया जाता था तो उसे पाट कहते थे। पाट का तात्पर्य वाद्यों पर बजने वाले वर्ण से होता है। इस प्रकार पाट का अर्थ है ताल वाद्यों पर बजने वाले वर्ण समूह। तालवाद्य गायन के साथ बजाये जाते थे। इन वाद्यों के जो बोल होते थे उन बोलों का उच्चारण पाट कहलाता था।

6. ताल

समय के माप को ताल कहते है। अतः प्रत्येक प्रबंध का एक अंग ताल भी है। इस प्रकार प्रबंध ताल से बद्ध रहता था। पर ताल अलग–अलग या एक सी होती थी। प्रबंध अथवा कोई भी शास्त्रीय रचना किसी ताल में तो निबद्ध होती है। ताल से ही गीतों की लय और लंबाई नापी जाती है। यह प्रबंध के अंगों का व्यक्तिक्रम इसलिए हुआ है कि इनका वर्णन ध्रुवपद में इनकी उपयोगिता की दृष्टि से हुआ है। कालांतर में प्रबंध के ये छह अंग धीरे–धीरे कम होने लगे थे, पहले विरन्द और पाठ का लोप हुआ और बाद में तेनक का, वर्तमान में लगभग सभी गायन शैलियों में स्वर ताल और पदों का प्रयोग होता है। इस प्रकार के तीन अंगों वाले प्रबंध को तब भाविनी जाति कहा जाता था। इसी प्रकार छह अंगों वाले प्रबंध को मेदिनी जाति का, पांच अंगों से युक्त प्रबंधक को आनंदिनी जाति का, चार अंगों से सुसज्जित प्रबंधन को दीपनी जाति का और दो अंगों वाले प्रबंध को तारावली जाति का कहा जाता था।

यह अलग बात है कि उच्चारण, भेद और स्वरों पर अधिक बल देने के कारण अब पदों की सार्थकता भी धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही है। कहीं–कहीं ध्रुवपद में चार भागों स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग की जगह ध्रुवपद के दो भाग स्थायी, अंतरा ही रह गए हैं। प्राचीन प्रबंध गान भी ऐसा ही होता था।

मध्यकाल में प्रबंधक के रूप में जयदेव अष्टपदियाँ आती है, उनके द्वारा रचित गीत–गोविंद नामक राधाकृष्ण संबंधी ग्रंथ प्रबंध शैली पर आधारित है। प्रबंध गान के साथ ध्रुवम शब्द सदा उनकी प्रथम पंक्ति के साथ जुड़ा रहता था। जयदेव का गीत–गोविन्द पूरे उत्तर भारत से लेकर दक्षिण की सीमा तक उन्हीं राग–तालो में गाया जाता था जिनमें वे अपने कर्ता के द्वारा रचे गए थे।[4] जयदेव की अष्टपदियों में भगवान कृष्ण की महानायक के रूप में छवि उभर आती है। कृष्ण की स्तुति करने के बाद काव्य की नायिका राधा हमें दुख से पीड़ित मिलती है जो अपने दक्षिण नायक कृष्ण के दूसरी गोपियों का अनुनय करने से वह पीड़ा का अनुभव करती है।

"विहरति हरि रिह सरस वसन्ते
नृत्यति युवति जनेन समं सखि
विरहिजनस्य दुरनत"

इस श्लोक में श्रृंगार के उद्दीपन विभावों का वर्णन है तथा इसमें नायिका से नायक का दूर होना विप्रलंभ श्रृंगार दर्शाता है। राधा यहाँ विरहोत्कठीता है तथा यह गीत जयदेव रचित "मंगलगीत" है।

"चंदन चर्चित नीलकलेवर पीतवसनवनमाली"

इस प्रसिद्ध अष्टपदी में सखी 'राधा' से कृष्ण की रासक्रीडा का वर्णन करती है।

"रासेहरिमिह विहित विलासम्
स्मरति मनो मम कृत परिहासम्"

इस अष्टपदी में हरि का स्मरण करते हुए राधा उनसे भूतकाल में हुई उनकी भेंट का वर्णन करती है।

"मामियं चलिता विलोक्य वृतं वधूनिचयेन
सापराध तथा मयापि न वारिताऽतिभयेन
हरि हरि हतादरतया गता सा कुपितेप"

कृष्ण कहते है कि मुझे सुंदरियों से घिरा देखकर राधा चली गई। मैं भी अपराधी होने के कारण उसे रोक न सका और वह दूर चली गई। इस प्रकार जयदेव द्वारा रचित "गीत–गोविद" में राधा–कृष्ण संबंधित पद है जो कि गाए जाते थे।[5]

इसी प्रकार विद्यापति की गान प्रणाली 'मैथिली' की उससे भिन्न स्वर रचना भावों से युक्त प्रान्तीय भाषा की मृदु पंखुरियों से सजी हुई नेपाल की सीमा तथा हरिद्वार से बंग की हरियाली भूमि तक नई नवेली बहुओं के कोमल कंठो से गुंजरित होती थी। इन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं जनभाषा मैथिली पर समान अधिकार प्राप्त था, इनकी कवित्व शक्ति और व्यापक लोकप्रियता का मुख्य आधार उनके मैथिली गीत है, इन्होंने श्रृंगार, भक्ति एवं विविध विषयों के गीत लिखे है। बंगाल, आसाम एवं उडीसा में वैष्णव साहित्य के विकास में इन गीतों का अपूर्व, योगदान रहा है। इन गीतों के भाव एवं माधुर्य से प्रभावित होकर महाराज शिवसिंह ने इन्हें 'अभिनव–जयदेव' की उपाधि प्रदान की थी। इन्हें मैथिल–कोकिल की उपाधि से भी विभूषित किया गया था।

मिथिला के इतिहास में 'विद्यापति–युग' को स्वर्ण युग कहा जाता है। इनके गीतों के संग्रह को पदावली कहा गया है, यह पदावली गीतिमय है। गीतिमय होने के कारण इनकी रचनाएं एक ओर तो अनाहत की अनुगूँज के निकट तक ले जाने वाली है तो दूसरी ओर जीवन जगत के रागो से ध्वनित करने वाली भी है। विद्यापति की रचनाएं प्रायः धार्मिक गीतों एवं श्रृंगारिक गीतों में मिलती है। धार्मिक गीतों में देवी–देवताओं की आराधना से सम्बन्धित गीत है। मिथिला की संस्कृति में धर्म का बहुत बड़ा सहयोग रहा है, यही कारण है कि मिथिला में भांति–भांति के धार्मिक गीत उपलब्ध होते है। इन गीतों का धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व तो है ही साथ ही सबसे ज्यादा महत्व है मांगलिक मूल्य का। विद्यापति के गीतों में दुर्गा काली एवं शिव की उपासना का वर्णन होता रहता है। शिव की उपासना में महेशवाणी एवं नचारी मिलते है महेशवाणी में शिव के प्रति भक्ति–भावनाओं की गाथा है वही दूसरी ओर नचारी में शिव और पार्वती के विवाह एवं उनके दाम्पत्य जीवन का वर्णन है। विद्यापति के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी संगीतात्मकता है ताल की दृष्टि से ये गीत अतुलनीय है मिथिला में स्त्रियां प्रायः सभी अवसर पर विद्यापति के गीतों को गाती है। बंगाल के वैष्णवों ने तो इन गीतों का प्रचार प्रसार मथुरा–वृन्दावन तक किया।

विद्यापति का एक प्रमुख गीत इस प्रकार है–

भगवती गीत

जय–जय भैरवी असु भयाउनि, पशुपति भामिनी माया।

सहज–समति वरदिअ है गोसाउनि, अनुगति–गति तुअ पाया।
वासर रैनि श्वासन शोभित, चरण चंद्रमणि चूडा।
कतओक दैत्य मारि मुँह मेलल, कतओ उगलि करू कडा।।
सामर बरन नयन अनुरंजित, जलद जोग फुल कोका।
कट–कट विकट ओठ पुट पांडरि, लिघुर फोन उठ फोका ।।
धन–धन घनन घुँघरू कटि बाजए, हन हन कर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक, पुत्र बिसरू जनु माता ।।

गीत का अर्थ

इस गीत में विद्यापति ने भगवती दुर्गा–काली की उपासना की है, उनका कहना है कि है भगवती तुम असुरो में भय उत्पन्न करने वाली हो, मैं तुम्हारी चरण–सेवा करता रहूँ, ऐसा मुझे वरदान दो, तुम्हारे चरणों के नीचे शिव सोये हुए है एवं तुम्हारे जूड़े में चंद्रमा रूपी मणि है, तुमने कितने ही दैत्यों का संहार करके कुल्ले की तरह उगल दिया है, तुम्हारा वर्ण श्याम है, आँखे लाल है, असुरों को मारने के क्रम में कट–कट की ध्वनि होती है एवं तुम्हारे खड्ग यानि तलवार से हन हन की ध्वनि होती है, तुम्हारे घुंघरुओं की घन–घन आवाज होती है, मैं तुम्हारा सेवक हूँ, मुझे यानि अपने पुत्र को कभी नहीं भूलना।[6]

इस प्रकार विद्यापति के गीतों ने योगदान दिया। इन दोनों की तरह तीसरी गीत परंपरा हरि आचार्यकृत श्री जानकी गौतम की प्रणाली में मिलती है जो कि उत्तर से दक्षिण के केवल संगीत गायकों के मुख से ही सुनने को मिलती थी यह गीत योग्य संस्कृत काव्य गोडी शैली में था, ये तीनो गीत प्रणालियां छंद गान एवं प्रबंध गान से ही रची पाई जाती है। धुव्रपद गान की यह कडी इन दोनों की भाव–भाषा एवं स्वर व्यंजना को लेकर रची गयी है। प्रबंध–गान के साथ में "धुवम" शब्द सदा उनकी प्रथम लाइन के साथ जुड़ा रहता था। ध्रुवपद दो शब्दों से मिलकर बना है। ध्रुव+पद ध्रुव अर्थात अचल और "पद" का अर्थ है गीत की पंक्ति, तुक, काव्य आदि।

आचार्य कृत श्री जानकी गौतम् और महाकवि जयदेव कृत गीत गोविन्द के गीत काव्यम् जिसमें ध्रुवपद के स्थाई, अन्तरा, संचारी और आभोग के पादखण्ड क्रम में है संस्कृत का ऐतिहासिक धुवपद गान ही है, दोनो ने ही राम और कृष्ण की भक्ति को लेकर अपना सारा गीति–काव्य रचा था प्रबन्धों की रचना में दो से लेकर आठ तक पदो का प्रयोग होता था।[7] गीतों की भाशा संस्कृत थी पर धीरे–धीरे प्रादेशिक भाषाओं में भी प्रबन्धों का निर्माण हुआ, इनके गायन के लिए कई गीतियां (शैलियां) प्रचलित थी जैसे शुद्ध, मिन्ना, गौडी, बेसरा, साधारणी आदि।[8]

प्राचीन समय में निबद्ध गान में प्रबन्ध, वस्तु तथा रूपक थे। दूसरी और अनिबद्ध गान में रागालाय रूपकालाय, आलप्तिगान थे। राग–विस्तार में अनिबद्ध गान की तीनो श्रेणियों रांगालाप, रूपकालाप, आलाप्तिगान थी। प्राचीन काल में सबसे पहले रागालाप होता था उस समय आलाप करने का यही ढंग प्रचलित था इसे अनिबद्ध गान कहकर पुकारा जाता था, गायक गीत गाने के पहले उस राग का स्वरूप रागालाप द्वारा खींचता था, जिस प्रकार आधुनिक समय में गायक अथवा वादक गीत के पहले राग का आलाप करता है रागालाप करते समय राग के दस लक्षणों का पूर्ण रूप से पालन किया जाता था अर्थात्

रागलाप द्वारा राग के दस लक्षणों को दिखाया जाता था राग के दस लक्षण इस प्रकार है। 1 ग्रह 2 अंश 3 न्यास 4 अल्पत्व 5 बहुत्व 6 शाडत्व 7 औडत्व 8 अपन्यास 9 मन्द्र 10 तार। इसके बाद रूपकालाप किया जाता था, यह आलाप करने का दूसरा प्रकार है, इसे गायक विभिन्न प्रकार से राग का विस्तार करके राग का स्वरूप खींचता था। यह भी अनिबद्ध मान के अन्तर्गत आता था आजकल इसका प्रचार नहीं है। अन्त में आलाप्तिगान होता था, आलाप्तिगान में राग का पूर्ण स्पष्टीकरण होता था। इसमें रागालाप के दस लक्षणों के अतिरिक्त आविर्भाव तथा तिरोभाव को भी दिखाया जाता था। आधुनिक काल में इनका प्रचार नहीं है। इन तीनो अनिबद्ध गान के बाद ही राग की चीज "प्रबन्ध वस्तु रूपक" गायी जाती थी।

निबद्ध गान वह है जो ताल से बद्ध हो अर्थात् ताल में बंधी हुई रचनाओं को निबद्ध गान के अन्तर्गत प्रबन्ध, वस्तु, रूपक आदि गायनों के प्रकार प्रचलित थे, परन्तु आधुनिक समय में निबद्ध गान में धुवपद, ख्याल, ठुमरी, दादरा आदि आते, इन सब प्रकारों को ताल के साथ अर्थात् ताल में बांधकर गाया जाता है इसलिए ये निबद्ध गान के अन्तर्गत आते है।[9]

अतः इस प्रकार आधुनिक समय में अनिबद्ध गान में आलाप गायन प्रचलित है जो राग के गीत गाने से पहले गाया जाता है। प्राचीन समय में आलाप के विस्तार के लिए भक्ति वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता था जैसे ओम नारायण, अनंत हरि, तु ही हरि, अनंत, आदि। इसके साथ–साथ ही आकार, उकार आदि शब्द भी लिए जाते थे, ये ही आज के समय में नोम–तोम के आलाप के रूप में जाने जाते हैं। नोम–तोम प्राचीन भक्ति वाचक शब्द ओम नारायण, अनंत हरि आदि का बिगड़ा हुआ रूप है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. भरत व्यास, *"ध्रुवपद समीक्षा"*
2. डा० मृत्युंजय शर्मा, *"संगीत मैनुअल"*
3. पंडित विजय शंकर मिर, *"संगीत कला* बिहार मासिक पत्रिका"
4. भरत व्यास, *"ध्रुवपद–समीक्षा"*
5. स्वाती दैष्णकर, *"संगीत कला विहार"* मासिक पत्रिका, जनवरी 2009
6. डा० निशा झा, *"संगीत* मासिक पत्रिका" जुलाई 2011